आगम साहित्य में प्रकीर्णकों का स्थान, महत्त्व, रचनाकाल एवं रचयिता

आगम-साहित्य में प्रकीर्णकों का स्थान

किसी भी धार्मिक परम्परा का आधार उसके धर्मग्रन्थ होते हैं, जिन्हें वह प्रमाणभूत मानकर चलती है। जिस प्रकार मुसलमानों के लिये कुरान, ईसाइयों के लिये बाइबिल, बौद्धों के लिये त्रिपिटक और हिन्दुओं के लिये वेद प्रमाणभूत ग्रन्थ हैं, उसी प्रकार जैनों के लिये आगम प्रमाणभूत ग्रन्थ हैं। सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्र, नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र में आगमों का वर्गीकरण अंगबाह्य के रूप में किया गया है। परम्परागत अवधारणा यह है कि तीर्थङ्करों द्वारा उपदिष्ट और गणधरों द्वारा रचित ग्रन्थ अंगप्रविष्ट आगम कहे जाते हैं। इनकी संख्या बारह है, जो श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में समान रूप से स्वीकृत है। इन अंग-आगमों के नाम हैं—१. आचारांग, २. सूत्रकृतांग, ३. स्थानांग, ४. समवायांग, ५.व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६. ज्ञाताधर्मकथांग, ७. उपासकदशांग, ८. अन्तकृद्दशांग, ९. अनुत्तरौपपातिकदशा १०. प्रश्नव्याकरणदशा, ११. विपाकदशा और १२. दृष्टिवाद। इनके नाम और क्रम के सम्बन्ध में भी दोनों परम्पराओं में एकरूपता है। मूलभूत अन्तर यह है कि जहाँ श्वेताम्बर-परम्परा आज भी दृष्टिवाद के अतिरिक्त शेष ग्यारह अंगों का अस्तित्व स्वीकार करती है, वहाँ दिगम्बर-परम्परा आज मात्र दृष्टिवाद के आधार पर निर्मित कसायपाहुड, षट्खण्डागम आदि के अतिरिक्त इन अंग-आगमों को विलुप्त मानती है।

अंगबाह्य वे ग्रन्थ हैं जो जिनवचन के आधार पर स्थविरों के द्वारा लिखे गए हैं। नन्दीसूत्र में अंग-बाह्य आगमों को भी प्रथमत: दो भागों में विभाजित किया गया है—१. आवश्यक और २. आवश्यक व्यतिरिक्त। आवश्यक के अन्तर्गत सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान— ये छ: ग्रन्थ सम्मिलित रूप से आते हैं, जिन्हें आज आवश्यकसूत्र के नाम से जाना जाता है। इसी ग्रन्थ में आवश्यक-व्यतिरिक्त आगम-ग्रन्थों को भी पुन: दो भागों में विभाजित किया गया है—१. कालिक और २. उत्कालिक। आज प्रकीर्णकों में वर्गीकृत नौ ग्रन्थ इन्हीं दो विभागों के अन्तर्गत उल्लिखित हैं। इसमें कालिक के अन्तर्गत ऋषिभाषित और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, इन दो प्रकीर्णकों का उल्लेख मिलता है, जबकि उत्कालिक के अन्तर्गत देवेन्द्रस्तव, तन्दुलवैचारिक , चन्द्रवेध्यक, गणिविद्या, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान और मरणविभक्ति इन सात प्रकीर्णकों का उल्लेख है।

प्राचीन आगमों में ऐसा कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि अमुक-अमुक ग्रन्थ प्रकीर्णक के अन्तर्गत आते हैं। नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र दोनों में ही आगमों के विभिन्न वर्गों में कहीं भी प्रकीर्णक-वर्ग का उल्लेख नहीं है। यद्यपि इन दोनों ग्रन्थों में आज हम जिन्हें प्रकीर्णक मान रहे हैं, उनमें से अनेक का उल्लेख कालिक एवं उत्कालिक आगमों के अन्तर्गत हुआ है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि आगमों का अंग, उपांग, छेद, मूल, चूलिका और प्रकीर्णक के रूप में उल्लेख सर्वप्रथम आचार्य जिनप्रभ के विधिमार्गप्रपा (लगभग ईसा की तेरहवीं शती) में मिलता है। इससे यह फलित होता है कि तेरहवीं शती से पूर्व आगमों के वर्गीकरण में कहीं भी प्रकीर्णक वर्ग का स्पष्ट निर्देश नहीं है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिये कि उसके पूर्व न तो प्रकीर्णक साहित्य था और न ही इनका कोई उल्लेख था।

अंग-आगमों में सर्वप्रथम समवायांगसूत्र में प्रकीर्णक का उल्लेख हुआ है। उसमें कहा गया है कि भगवान् ऋषभदेव के चौरासी हजार शिष्यों द्वारा रचित चौरासी हजार प्रकीर्णक थे। परम्परागत अवधारणा यह है कि जिस तीर्थङ्कर के जितने शिष्य होते हैं, उसके शासन में उतने ही प्रकीर्णक ग्रन्थों की रचना होती है। सामान्यतया प्रकीर्णक शब्द का तात्पर्य होता है—विविध ग्रन्थ। मुझे ऐसा लगता है कि प्रारम्भ में आगमों के अतिरिक्त सभी ग्रन्थ प्रकीर्णक की कोटि में माने जाते थे। अंग-आगमों से इतर आवश्यक, आवश्यक-व्यतिरिक्त, कालिक एवं उत्कालिक के रूप में वर्गीकृत सभी ग्रन्थ प्रकीर्णक कहलाते थे। मेरे इस कथन का प्रमाण यह है कि षट्खण्डागम की धवला टीका में बारह अंग-आगमों से भिन्न अंगबाह्य ग्रन्थों को प्रकीर्णक नाम दिया गया है।[1] उसमें उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, ऋषिभाषित आदि को भी प्रकीर्णक ही कहा गया है।[2] यह भी ज्ञातव्य है कि प्रकीर्णक नाम से अभिहित अथवा प्रकीर्णक वर्ग में समाहित सभी ग्रन्थों के नाम के अन्त में प्रकीर्णक शब्द नहीं मिलता है। मात्र कुछ ही ग्रन्थ ऐसे हैं जिनके नाम के अन्त में प्रकीर्णक शब्द का उल्लेख हुआ है। फिर भी इतना निश्चित है कि प्रकीर्णकों का अस्तित्व अति प्राचीन काल में भी रहा है, चाहे उन्हें प्रकीर्णक नाम से अभिहित किया गया हो अथवा न किया गया हो। नन्दीसूत्रकार ने अंग-आगमों को छोड़कर आगम रूप में मान्य सभी ग्रन्थों को प्रकीर्णक कहा है।[3] अत: 'प्रकीर्णक' शब्द आज जितने संकुचित अर्थ में है उतना पूर्व में नहीं था। उमास्वाति और देववाचक के समय में तो अंग-आगमों के अतिरिक्त शेष सभी आगमों को प्रकीर्णक में ही समाहित किया जाता था।इससे जैन-आगम-साहित्य में प्रकीर्णक का क्या स्थान है, यह सिद्ध हो जाता है। प्राचीन दृष्टि से तो अंग-आगमों के अतिरिक्त सम्पूर्ण जैन-आगमिक साहित्य प्रकीर्णक वर्ग के अन्तर्गत आता है।

वर्तमान में प्रकीर्णक-वर्ग के अन्तर्गत दस ग्रन्थ मानने की जो परम्परा है, वह न केवल अर्वाचीन है अपितु इस सन्दर्भ में श्वेताम्बर-आचार्यों में परस्पर मतभेद भी है[4] कि इन दस प्रकीर्णकों में कौन से ग्रन्थ समाहित किये जाएँ। प्रद्युम्नसूरि ने विचारसारप्रकरण (चौदहवीं शताब्दी) में पैंतालीस आगमों का उल्लेख करते हुए कुछ प्रकीर्णकों का उल्लेख किया है। आगम-प्रभाकर मुनिपुण्यविजयजी ने चार अलग-अलग सन्दर्भों में प्रकीर्णकों की अलग-अलग सूचियाँ प्रस्तुत की हैं।[5]

अत: दस प्रकीर्णक के अन्तर्गत किन-किन ग्रन्थों को समाहित करना चाहिये, इस सन्दर्भ में श्वेताम्बर-आचार्यों में कहीं भी एकरूपता देखने को नहीं मिलती है। इससे यह फलित होता है कि प्रकीर्णक ग्रन्थों की संख्या दस है, यह मान्यता न केवल परवर्ती है अपितु उसमें एकरूपता का भी अभाव है। भिन्न-भिन्न श्वेताम्बर-आचार्य भिन्न-भिन्न सूचियाँ प्रस्तुत करते रहे हैं उनमें कुछ नामों में तो एकरूपता होती है, किन्तु सभी नामों में एकरूपता का अभाव पाया जाता है। जहाँ तक दिगम्बर-परम्परा का प्रश्न है उसमें तत्त्वार्थभाष्य का अनुसरण करते हुए अंग-आगमों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों को प्रकीर्णक कहने की ही परम्परा रही है। अत: प्रकीर्णकों की संख्या अमुक ही है, यह कहने का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। वस्तुत: अंग-आगम साहित्य के अतिरिक्त सम्पूर्ण अंगबाह्य आगम-साहित्य प्रकीर्णक के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार प्रकीर्णक साहित्य जैन-आगम-साहित्य के अति विशाल भाग का परिचायक है और उनकी संख्या को दस तक सीमित करने का दृष्टिकोण पर्याप्त रूप से परवर्ती और विवादास्पद है।

प्रकीर्णक साहित्य का महत्त्व

यद्यपि वर्तमान में श्वेताम्बर जैनों के स्थानकवासी और तेरापंथी सम्प्रदाय प्रकीर्णकों को आगमों के अन्तर्गत मान्य नहीं करते हैं, किन्तु प्रकीर्णकों की विषय-वस्तु का अध्ययन करने से ऐसा लगता है कि अनेक प्रकीर्णक अंग-आगमों की अपेक्षा भी साधना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि यह सत्य है कि आचार्य वीरभद्र द्वारा ईसा की दसवीं शती में रचित कुछ प्रकीर्णक अर्वाचीन हैं, किन्तु इससे सम्पूर्ण प्रकीर्णकों की अर्वाचीनता सिद्ध नहीं होती। विषय-वस्तु की दृष्टि से प्रकीर्णक साहित्य में जैनविद्या के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। जहाँ तक देवेन्द्रस्तव और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति प्रकीर्णक का प्रश्न है, वे मुख्यत: जैन खगोल और भूगोल की चर्चा करते हैं। इसी प्रकार तित्थोगाली प्रकीर्णक में भी जैन-काल-व्यवस्था का चित्रण विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों के सन्दर्भ में हुआ है। ज्योतिष्करण्डक और गणिविद्या-प्रकीर्णक का सम्बन्ध मुख्यतया जैन-ज्योतिष से है। तित्थोगाली प्रकीर्णक मुख्यरूप से प्राचीन जैन-इतिहास को प्रस्तुत करता है। श्वेताम्बर-परम्परा में तित्थोगाली ही एकमात्र ऐसा प्रकीर्णक है जिसमें आगमज्ञान के क्रमिक उच्छेद की बात कही गई है। सारावली प्रकीर्णक में मुख्य रूप से शत्रुञ्जय महातीर्थ की कथा और महत्त्व उल्लिखित है। तंदुलवैचारिक प्रकीर्णक जैन-जीवविज्ञान का सुन्दर और संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार अंगविद्या नामक प्रकीर्णक मानव-शरीर के अंग-प्रत्यंगों के विवरण के साथ-साथ उनके शुभाशुभ लक्षणों का भी चित्रण करता है और उनके आधार पर फलादेश भी प्रस्तुत करता है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का सम्बन्ध शरीर-रचना एवं फलित ज्योतिष दोनों विषयों से है। गच्छाचार प्रकीर्णक में जैन-संघ-व्यवस्था का चित्रण उपलब्ध होता है, जबकि चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक में गुरु-शिष्य के सम्बन्ध एवं शिक्षा- सम्बन्धों का निर्देश है। वीरस्तव प्रकीर्णक में महावीर के विविध विशेषण के अर्थ की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या की गई है। चतु:शरण प्रकीर्णक में मुख्य रूप से चतुर्विध संघ के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए जैन-साधना का परिचय दिया गया है। आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, मरणसमाधि, संस्तारक, आराधनापताका, आराधनाप्रकरण, भक्तप्रत्याख्यान आदि प्रकीर्णक जैन-साधना के अन्तिम चरण समाधिमरण की पूर्व तैयारी और उसकी साधना की विशेष विधियों का चित्रण प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार प्रकीर्णक साहित्य में जैनविद्या के विविध पक्षों का समावेश हुआ है, जो जैन-साहित्य के क्षेत्र में उनके मूल्य और महत्त्व को स्पष्ट कर देता है।

प्रकीर्णक साहित्य का रचनाकाल

जहाँ तक प्रकीर्णकों की प्राचीनता का प्रश्न है उनमें से अनेक प्रकीर्णकों का उल्लेख नन्दीसूत्र में होने से वे उससे प्राचीन सिद्ध हो जाते हैं। मात्र यही नहीं प्रकीर्णक नाम से अभिहित ग्रन्थों में से अनेक तो अंग-आगमों की अपेक्षा प्राचीन स्तर के रहे हैं, क्योंकि ऋषिभाषित का स्थानांग एवं समवायांग में उल्लेख है।[६] ऋषिभाषित आदि कुछ ऐसे प्रकीर्णक हैं जो भाषा-शैली, विषय-वस्तु आदि अनेक आधारों पर आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोड़कर शेष आगमों की अपेक्षा भी प्राचीन हैं। ऋषिभाषित उस काल का ग्रन्थ है, जब जैनधर्म सीमित सीमाओं में आबद्ध नहीं हुआ था वरन् उसमें अन्य परम्पराओं के श्रमणों को भी आदर पूर्वक स्थान प्राप्त था। इस ग्रन्थ की रचना उस युग में सम्भव नहीं थी, जब जैनधर्म भी सम्प्रदाय के क्षुद्र घेरे में आबद्ध हो गया। लगभग ई० पू० तीसरी शताब्दी से जैनधर्म में जो साम्प्रदायिक अभिनिवेश दृढ़ हो रहे थे, उसके संकेत सूत्रकृतांगसूत्र और भगवतीसूत्र जैसे प्राचीन आगमों में भी मिल रहे हैं। भगवतीसूत्र में जिस मंखलिपुत्र गोशालक की कटु आलोचना है, उसे ऋषिभाषित अर्हत् ऋषि कहता है। आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, तंदुलवैचारिक, मरणविभक्ति आदि प्रकीर्णक साहित्य के ऐसे ग्रन्थ हैं—जो सम्प्रदायगत आग्रहों से मुक्त हैं। सूत्रकृतांगसूत्र में ऋषिभाषित के अनेक ऋषियों का सम्मानपूर्वक उल्लेख और उन्हें अर्हत् परम्परा द्वारा सम्मत माना जाना भी यही सूचित करता है कि ऋषिभाषित इन अंग-आगमों से भी प्राचीन है। पुन: ऋषिभाषित जैसे कुछ प्राचीन प्रकीर्णकों की भाषा का अर्धमागधी स्वरूप तथा आगमों की अपेक्षा उनकी भाषा में महाराष्ट्री भाषा की अल्पता भी यही सिद्ध करती है कि ये ग्रन्थ प्राचीन स्तर के हैं। नन्दीसूत्र में प्रकीर्णक के नाम से अभिहित नौ ग्रन्थों का उल्लेख भी यही सिद्ध करता है कि कम से कम ये नौ प्रकीर्णक तो नन्दीसूत्र से पूर्ववर्ती हैं। नन्दीसूत्र का काल विद्वानों ने विक्रम की पाँचवीं शती माना है, अत: ये प्रकीर्णक उससे पूर्व के हैं। इसी प्रकार समवायांगसूत्र में स्पष्ट रूप से प्रकीर्णकों का निर्देश भी यही सिद्ध करता है कि समवायांगसूत्र के रचनाकाल अर्थात् विक्रम की तीसरी शती में भी अनेक प्रकीर्णकों का अस्तित्व था।

इन प्रकीर्णकों में देवेन्द्रस्तव के रचनाकार ऋषिपालित हैं। कल्पसूत्र स्थविरावली में ऋषिपालित का उल्लेख है। इनका काल ईसा-पूर्व प्रथम शती के लगभग है। इसकी विस्तृत चर्चा हमने देवेन्द्रस्तव (देविंदत्थओ) की प्रस्तावना में की है[७] (इच्छुक पाठक उसे वहाँ देख सकते हैं)।

अभी-अभी 'सम्बोधि' पत्रिका में श्री ललित कुमार का एक शोध-लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें उन्होंने पुरातात्त्विक आधारों पर यह सिद्ध किया है कि देवेन्द्रस्तव की रचना ई०पू० प्रथम शती में या उसके भी कुछ पूर्व हुई होगी।[८] प्रकीर्णकों में निम्नलिखित प्रकीर्णक वीरभद्र की रचना कहे जाते हैं—चउसरण, आउरपच्चक्खाण, भत्तपरिण्णा और आराधनापताका। आराधनापताका की प्रशस्ति में 'विक्कमनिवकालाओ अट्ठुत्तरिमे-समासहस्सम्मि' या पाठभेद से अट्ठभेद से समासहस्सम्मि' के उल्लेख के अनुसार इनका रचनाकाल ई० सन् १००८ या १०७८ सिद्ध होता है।[९] इस प्रकार प्रकीर्णक नाम से अभिहित ग्रन्थों में जहाँ ऋषिभाषित ई० पू० पाँचवीं शती की रचना है, वहीं आराधनापताका ई० सन् की दसवीं या ग्यारहवीं शती के पूर्वार्द्ध की रचना है। इस प्रकार प्रकीर्णक साहित्य में समाहित ग्रन्थ लगभग पन्द्रह सौ वर्ष की सुदीर्घ अवधि में निर्मित होते रहे हैं, फिर भी चउसरण, परवर्ती आउरपच्चक्खाण, भत्तपरिण्णा, संथारग और आराहनापडाया को छोड़कर शेष प्रकीर्णक ई० सन् की पाँचवी शती के पूर्व की रचनाएँ हैं। ज्ञातव्य है कि महावीर जैन विद्यालय, बम्बई से प्रकाशित 'पइण्णयसुत्ताइं' में आउरपच्चक्खाण के नाम से तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, इनमें वीरभद्र रचित आउरपच्चक्खाण परवर्ती है, किन्तु नन्दीसूत्र में उल्लिखित आउरपच्चक्खाण तो प्राचीन ही है।

यहाँ पर यह भी ज्ञातव्य है कि प्रकीर्णकों की अनेक गाथाएँ श्वेताम्बर-मान्य अंग-आगमों एवं उत्तराध्ययनसूत्र, दशवैकालिकसूत्र जैसे प्राचीन स्तर के आगम ग्रन्थों में भी पायी जाती हैं। गद्य अंग-आगमों, में पद्यरूप में इन गाथाओं की उपस्थिति भी यही सिद्ध करती है कि उनमें ये गाथाएँ प्रकीर्णकों से अवतरित हैं। यह कार्य वलभीवाचना के पूर्व हुआ है, अत: फलित होता है कि नन्दीसूत्र में उल्लिखित प्रकीर्णक वलभीवाचना के पूर्व रचित हैं। तंदुलवैचारिक का उल्लेख दशवैकालिक की प्राचीन अगस्त्यसिंह चूर्णि में है।[१०] इससे उसकी प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। यह चूर्णि अन्य चूर्णियों की अपेक्षा प्राचीन मानी गयी है।

दिगम्बर-परम्परा में मूलाचार, भगवती-आराधना और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में प्रकीर्णकों की सैकड़ों गाथाएँ अपने शौरसेनी रूपान्तरण में मिलती हैं। मूलाचार के संक्षिप्त प्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान नामक अध्यायों में तो आतुरप्रत्याख्यान एवं महाप्रत्याख्यान इन दोनों प्रकीर्णकों की लगभग सत्तर से अधिक गाथाएँ हैं। इसी प्रकार मरणविभक्ति प्रकीर्णक की लगभग शताधिक गाथाएँ भगवती-आराधना में मिलती हैं। इससे यही फलित होता है कि ये प्रकीर्णक ग्रन्थ मूलाचार एवं भगवती-आराधना से पूर्व के हैं। मूलाचार एवं भगवती-आराधना के रचनाकाल को लेकर चाहे कितना भी मतभेद हो, किन्तु इतना निश्चित है कि ये ग्रन्थ ईसा की छठी शती से परवर्ती नहीं हैं।

यद्यपि यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि प्रकीर्णक में ये गाथाएँ इन यापनीय/अचेल परम्परा के ग्रन्थों से ली गयी होंगी, किन्तु अनेक प्रमाणों के आधार पर यह दावा निरस्त हो जाता है। जिनमें से कुछ प्रमाण इस प्रकार हैं—

१. गुणस्थान सिद्धान्त उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र और आचारांगनिर्युक्ति की रचना के पश्चात् लगभग पाँचवीं-छठी शती में अस्तित्व में आया है। चूँकि मूलाचार और भगवती-आराधना दोनों ग्रन्थों में गुणस्थान का उल्लेख मिलता है, अत: ये ग्रन्थ पाँचवीं शती के बाद की रचनाएँ हैं जबकि आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान और मरणसमाधि का उल्लेख नन्दीसूत्र में होने से ये ग्रन्थ पाँचवीं शती के पूर्व की रचनाएँ हैं।

२. मूलाचार में संक्षिप्तप्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान नामक अध्ययन बनाकर उनमें आतुरप्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान नामक दोनों ग्रन्थों को समाहित किया गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि ये ग्रन्थ पूर्ववर्ती हैं और मूलाचार परवर्ती है।

३. भगवती-आराधना में भी मरणविभक्ति को अनेक गाथाएँ समान रूप से मिलती हैं। वर्ण्य-विषय की समानता होते हुए भी भगवती-आराधना में जो विस्तार है, वह मरणविभक्ति में नहीं है। प्राचीन स्तर के ग्रन्थ मात्र श्रुतपरम्परा से कण्ठस्थ किये जाते थे, अत: वे आकार में संक्षिप्त होते थे ताकि उन्हें सुगमता से याद रखा जा सके, जबकि लेखन-परम्परा के विकसित होने के पश्चात् विशालकाय ग्रन्थ निर्मित होने लगे। मूलाचार और भगवती-आराधना दोनों विशाल ग्रन्थ हैं, अत: वे प्रकीर्णकों से अपेक्षाकृत परवर्ती हैं। वस्तुत: प्रकीर्णक साहित्य के वे सभी ग्रन्थ जो नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र में उल्लिखित हैं और वर्तमान में उपलब्ध हैं, निश्चित ही ईसा की पाँचवीं शती पूर्व के हैं।

प्रकीर्णकों में ज्योतिष्करण्डक नामक प्रकीर्णक का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें श्रमण गन्धहस्ती और प्रतिहस्ती का उल्लेख मिलता है। इसमें यह भी कहा गया है कि जिस विषय का सूर्यप्रज्ञप्ति में विस्तार से विवेचन है, उसी को संक्षेप में यहाँ दिया गया है। तात्पर्य यह है कि यह प्रकीर्णक सूर्यप्रज्ञप्ति के आधार पर निर्मित किया गया है। इसमें कर्त्ता के रूप में पादलिप्ताचार्य का भी स्पष्ट उल्लेख हुआ है। पादलिप्ताचार्य का उल्लेख निर्युक्ति-साहित्य में भी उपलब्ध होता है (लगभग ईसा की प्रथम शती)। इससे यही फलित होता है कि ज्योतिष्करण्डक का रचनाकाल भी ई० सन् की प्रथम शती है। अंगबाह्य आगमों में सूर्यप्रज्ञप्ति, जिसके आधार पर इस ग्रन्थ की रचना हुई, एक प्राचीन ग्रन्थ है क्योंकि इसमें जो ज्योतिष सम्बन्धी विवरण हैं, वह ईस्वी पूर्व के हैं, उसके आधार पर भी इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। साथ ही इसकी भाषा में अर्धमागधी रूपों की प्रचुरता भी इसे प्राचीन ग्रन्थ सिद्ध करती है।

अत: प्रकीर्णकों के रचनाकाल की पूर्व सीमा ई०पू० चतुर्थ-तृतीय शती से प्रारम्भ होती है। परवर्ती कुछ प्रकीर्णक जैसे कुशलानुबंधि अध्ययन, चतु:शरण, भक्तपरिज्ञा आदि वीरभद्र की रचना माने जाते हैं, वे निश्चित ही ईसा की दसवीं शती की रचनाएँ हैं। इस प्रकार प्रकीर्णक साहित्य का रचनाकाल ई०पू० चतुर्थ शती से प्रारम्भ होकर ईसा की दसवीं शती तक अर्थात् लगभग पन्द्रह सौ वर्षों की सुदीर्घ अवधि तक व्याप्त है।

प्रकीर्णकों के रचयिता

प्रकीर्णक साहित्य के रचनाकाल के सम्बन्ध में विचार करते हुए

हमने यह पाया है कि अधिकांश प्रकीर्णक ग्रन्थों के रचयिता के सन्दर्भ में कहीं कोई उल्लेख नहीं है। प्राचीन स्तर के प्रकीर्णकों में ऋषिभाषित, चन्द्रवेध्यक, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, मरणसमाधि, गणिविद्या, संस्तारक आदि में लेखक के नाम का कहीं भी निर्देश नहीं है। मात्र देवेन्द्रस्तव और ज्योतिष्करण्डक दो ही प्राचीन प्रकीर्णक ऐसे हैं, जिनकी अन्तिम गाथाओं में स्पष्ट रूप से लेखक के नामों का उल्लेख हुआ है।[11] देवेन्द्रस्तव के कर्त्ता के रूप में ऋषिपालित और ज्योतिष्करण्डक के कर्त्ता के रूप में पादलिप्ताचार्य के नामों का उल्लेख कल्पसूत्र स्थविरावली में महावीर की पट्टपरम्परा में तेरहवें स्थान पर आता है और इस आधार पर वे ई० पू० प्रथम शताब्दी के लगभग के सिद्ध होते हैं। कल्पसूत्र स्थविरावली में इनके द्वारा कोटिकगण की ऋषिपालित शाखा प्रारम्भ हुई, ऐसा भी उल्लेख है। इस सन्दर्भ में और विस्तार से चर्चा हमने देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक की भूमिका में की है।[12] देवेन्द्रस्तव के कर्त्ता ऋषिपालित का समय लगभग ई० पू० प्रथम शताब्दी है। इस तथ्य की पुष्टि श्री ललित कुमार ने अपने एक शोध-लेख में की है, जिसका निर्देश भी हम पूर्व में कर चुके हैं। ज्योतिष्करण्डक के कर्त्ता पादलिप्ताचार्य का उल्लेख हमें निर्युक्ति-साहित्य में उपलब्ध होता है।[13] आर्यरक्षित के समकालिक होने से वे लगभग ईसा की प्रथम शताब्दी के ही सिद्ध होते हैं। उनके व्यक्तित्व के सन्दर्भ में भी चूर्णि-साहित्य और परवर्ती प्रबन्धों में विस्तार से उल्लेख मिलता है।

कुसलाणुबंधि अध्ययन और भक्तपरिज्ञा के कर्त्ता के रूप में भी आचार्य वीरभद्र का ही उल्लेख मिलता है।[14] वीरभद्र के काल के सम्बन्ध में अनेक प्रवाद प्रचलित हैं जिनकी चर्चा हमने गच्छाचार प्रकीर्णक की भूमिका में की है।[15] हमारी दृष्टि में वीरभद्र ईसा की दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के आचार्य हैं।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि ईस्वी पूर्व चतुर्थ शताब्दी से लेकर ईसा की दसवीं शताब्दी तक लगभग पन्द्रह सौ वर्षों की सुदीर्घ अवधि में प्रकीर्णक साहित्य लिखा जाता रहा है। किन्तु इतना निश्चित है कि अधिकांश महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ईसा की पाँचवीं-छठी शताब्दी तक लिखे जा चुके थे। वे सभी प्रकीर्णक जो नन्दीसूत्र में उल्लिखित हैं, वस्तुत: प्राचीन हैं और उनमें जैनों के सम्प्रदायगत विभेद की कोई सूचना नहीं है। मात्र तित्थोगाली, सारावली आदि कुछ परवर्ती प्रकीर्णकों में प्रकारान्तर से जैनों के साम्प्रदायिक मतभेदों की किञ्चित् सूचना मिलती है। प्राचीन स्तर के इन प्रकीर्णकों में से अधिकांश मूलत: आध्यात्मिक साधना और विशेष रूप से समाधिमरण की साधना के विषय में प्रकाश डालते हैं। ये ग्रन्थ निवृत्तिमूलक जीवनदृष्टि के प्रस्तोता हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है कि जैन-परम्परा के कुछ सम्प्रदायों में विशेष रूप से दिगम्बर, स्थानकवासी और तेरापंथी परम्पराओं में इनकी आगम रूप में मान्यता नहीं है, किन्तु यदि निष्पक्ष भाव से इन प्रकीर्णकों का अध्ययन किया जाय तो इनमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो इन परम्पराओं की मान्यता के विरोध में जाता हो। आगम-संस्थान, उदयपुर द्वारा इन प्रकीर्णकों का हिन्दी में अनुवाद करके जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया जा रहा है, आशा है, उसके माध्यम से ये ग्रन्थ उन परम्पराओं में भी पहुँचेंगे और उनमें इनके अध्ययन और पठन-पाठन की रुचि विकसित होगी। वस्तुत: प्रकीर्णक साहित्य की उपेक्षा प्राकृत साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष की उपेक्षा है। इस दिशा में आगम-संस्थान, उदयपुर ने साम्प्रदायिक आग्रहों से ऊपर उठकर इनके अनुवाद को प्रकाशित करने की योजना को अपने हाथ में लिया और इनका प्रकाशन करके अपनी उदारवृत्ति का परिचय दिया है। प्रकीर्णक साहित्य के समीक्षात्मक अध्ययन के उद्देश्य को लेकर इनके द्वारा प्रकाशित 'प्रकीर्णक साहित्य : अध्ययन एवं समीक्षा' नामक पुस्तक प्रकीर्णकों के विषय में विस्तृत जानकारी देती है। आशा है सुधीजन संस्था के इन प्रयत्नों को प्रोत्साहित करेंगे, जिसके माध्यम से प्राकृत-साहित्य की यह अमूल्य निधि जन-जन तक पहुँचकर उनके आत्म-कल्याण में सहायक बनेगी।

सन्दर्भ

१. 'अंगबाहिरचोद्दसपइण्णयज्झाया'—धवला, पुस्तक १३, खण्ड ५, भाग ५, सूत्र ४८, पृ० २६७, उद्धृत-जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ०७०।

२. वही, पृ० ७०।

३. नन्दीसूत्र, सम्पा०-मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२, सूत्र ८१।

४. उद्धृत—पइण्णयसुत्ताइं, सम्पा०-मुनि पुण्यविजय, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९८४, भाग १, प्रस्तावना, पृ०२१।

५. वही, प्रस्तावना, पृ० २०-२१।

६(क). स्थानाङ्गसूत्र, सम्पा०-मधुकरमुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८१, स्थान १०, सूत्र ११६।

(ख) समवायाङ्गसूत्र, सम्पा०-मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२, समवाय ४४, सूत्र २५८।

७. देविंदत्थओ (देवेन्द्रस्तव), आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर, १९८८, भूमिका, पृ० १८-२२।

८. *Sambodhi*, L.D. Institute of Indology, Ahmedabad, Vol. XVIII, Year 1992-93, pp. 74-76

९. आराधनापताका (आचार्य वीरभद्र), गाथा ९८७।

१०. दशवैकालिक चूर्णि, पृ० ३, पं०१२—उद्धृत पइण्णयसुत्ताइं, भाग १, प्रस्तावना, पृ०१९।

११. (क) देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक, गाथा ३१०।
(ख) ज्योतिष्करण्डक प्रकीर्णक, गाथा ४०३-४०६।

१२. देविंदत्थओ, भूमिका, पृ० १८-२२।

१३. पिंडनिर्युक्ति, गाथा ४९८।

१४. (क) कुसलाणुबंधि अध्ययन प्रकीर्णक, गाथा ६३।
(ख) भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक, गाथा १७२।

१५. गच्छायार पइण्णयं (गच्छाचार-प्रकीर्णक), आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर, १९९४, भूमिका, पृ०२०-२१।